संस्कृत साहित्य में रीतिकाल के प्रवर्तक

–नागरानी देवी एवं डॉ. सीमा सिंह*
शोधछात्रा– संस्कृत, वी.ब. सिंह पूर्वांचल वि.वि., जौनपुर
एसो.प्रोफे. एवम् अध्यक्ष : संस्कृत
राजा हरपाल सिंह महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर (उ.प्र.)

संस्कृत महाकाव्य की परम्परा तथा विकासक्रम का अनुशीलन करने से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि आदिकवि वाल्मीकि के रामायण काव्य में भावपक्ष का प्राधान्य है, भाषा या कलापक्ष की गौणता है। कालिदास से पूर्व तक यही प्रवृत्ति रही है। महाकवि कालिदास नये युग का प्रवर्तन करते हैं। उनमें भाषा एवं भाव दोनों का अद्भुत समन्वय है, दोनों प्रधान है। आलोचकों ने कालिदासयुग की कविता को 'सुकुमार शैली' की संज्ञा दी है। महाकवि भारवि के प्रादुर्भाव से एक नये युग का प्रवर्तन होता है। आलोचक भारवि और भारवियुग की कविता को 'अलंकारशैली' की संज्ञा देते हैं। आचार्य कुन्तक के शब्दों में यह 'विचित्रमार्ग' है। इसमें कविता रस या भाव प्रधान न होकर अलंकार या भाषा प्रधान हो जाती है। भारवि इस शैली का नेतृत्व करते हैं। इस पद्धति की काव्ययात्रा में परवर्ती माघ, भट्टि, श्रीहर्ष, आनन्दवर्धन आदि कवि सम्मिलित हुए।

'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर वामन ने काव्य में रीति को प्रमुख स्थान दिया और उसको काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया। रसवादी और ध्वनिवादी आचार्य इससे सहमत नहीं हुए। यह एक पृथक् प्रश्न है, इसकी विवेचना यहाँ प्रासंगिक नहीं है। 'रीति' का अर्थ है– विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। विशेषो गुणात्मा[1]। अर्थात्–पदों की विशिष्ट रचना ही 'रीति' है और विशेष (विशेषयुक्त को विशिष्ट कहते हैं) का अर्थ है– गुणों से युक्त होना। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पदसंघटना रूप 'रीति' की स्थिति काव्य में रसों के उपकारक के रूप में रहती है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार वर्ण रचनारूप रीतियाँ माधुर्य आदि गुणों की अभिव्यञजक कही जा सकती हैं, वे रसों की अभिव्यञ्जक नहीं हैं। (वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुण व्यञजकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च–रस गंगाधर– प्रथम आनन)।

भारवि शास्त्रकवि हैं– काव्य में शास्त्रीय सन्निबन्ध करने वाले। यद्यपि किरात में अर्थगाम्भीर्य, पुनरुक्तिदोषराहित्य तथा निश्चित अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली पदयोजना को प्रमुख स्थान मिला है, तथापि महाकाव्य के लक्षणों को दृष्टिगत कर वर्णन वाले स्थलों में भावपक्ष गौण है अलंकार तथा कलापक्ष प्रबल हो गया है। हिमालय वर्णन में कलापक्ष के विकास का उदाहरण देखिए–

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचिमानसम्
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम्।।[3]

(नित्य विकसित होने वाले कमलों से सुशोभित तथा राजहंसों से युक्त निर्मल मानसरोवर को तथा किसी कारण कदाचित् कुपिता पार्वती के साथ कलह करने वाले अपने गणों समेत अविद्यादि दोषों से रहित भगवान् शंकर को यह हिमालय धारण किये हुए है)। यहाँ 'सकलहंसगणं' तथा सकलहं सगणं, शुचि मानसं शुचिमानसं पदों के प्रयोग से 'यमक' है।

इसी प्रकार एक अन्य 'यमक' अलंकार का उदाहरण द्रष्टव्य है–

कुररीगणः कृतरवस्तरवः कुसुमानताः सकमलं कमलम्।
इव सिन्धवश्च वरणावरणाः करिणां मुदे सनलदानलदाः।।[4]

इस हिमालय पर्वत में कुररी पक्षी बोल रहे हैं, वृक्ष पुष्पभार से नीचे को झुक गये हैं, जलाशय कमलों से सुशोभित हैं, वृक्षों के आवरण एवं उशीरों से युक्त सन्ताप दूर करने वाली नदियाँ हाथियों का आनन्द बढ़ाने वाली हैं।

भारवि के समग्र कलात्मक पाण्डित्य का प्रदर्शन किरात. के 15वें सर्ग के युद्ध–वर्णन प्रसंग में प्राप्त होता है। इसमें विकट चित्रबन्धों में की गयी रचना सामान्य काव्यकौशल की बात नहीं है। भारवि के गोमुत्रिका बन्ध, अर्धभ्रमक, सर्वतोभद्र, एकाक्षरपाद, एकाक्षरश्लोक, द्वयक्षरश्लोक, निरौष्ठ्य, समुद्गक, पादान्तादियमक, पादादियमक, प्रतिलोमानुलोमपाद, प्रतिलोमानुलोमार्द्ध आदि विकट बन्धों को देखकर सामान्य बुद्धि को विस्मित हो जाना पड़ता है। संस्कृत जैसी अनेकार्थधातुओं से युक्त समृद्ध भाषा में ही ये विकटबन्ध सम्भव भी हैं।

अर्थत्रयवाची श्लोक– जगती शरणेयुक्तो हरिकान्तः सुधासितः।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ।।[5]

कवि अर्जुन की उपमा नगराज (हिमालय), नागराज (हाथियों के राजा, ऐरावत) तथा नागराज (नागों के राजा शेष) से दी है।

प्रथम अर्थ– (नागराज हिमालय के पक्ष में) ईश अर्थात् शिव से युद्ध करने में तत्पर, सिंह के समान सुन्दर, सम्यक् रूप से प्रजापालन करने वाले, कृष्णवर्ण, बहुदानी, युद्ध में विजय के अभिलाषी अर्जुन विधाता द्वारा पृथ्वी की रक्षा में नियुक्त निवास–स्थान आदि के दान से सिंहों के प्रिय, (बर्फ से ढके रहने के कारण) सुधा अर्थात् चूना के समान श्वेत, दानवों, ऋषियों तथा कामदेव से प्रशंसित नागराज हिमालय के समान सुशोभित हो रहे थे।

द्वितीय अर्थ– (नागराज ऐरावत के पक्ष में) पृथ्वी को अपनी शरण में रखने के लिए नियुक्त, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान शील–सदाचार से स्वच्छ शरीर वाले, दान की वर्षा करने वाले, युद्ध में विजय के अभिलाषी, अर्जुन जगती अर्थात् पृथ्वी को क्षीण करने वाले राक्षसों के साथ युद्ध करने में तत्पर, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान श्वेत वर्ण वाले, मद वर्षा करने वाले एवं विजयाभिलाषी नागराज ऐरावत की भाँति शोभा पा रहे थे।

तृतीय अर्थ– (नागराज शेष के पक्ष में) विधाता द्वारा पृथ्वी की रक्षा करने में नियुक्त, कृष्ण के प्रिय, वसुधा अर्थात् पृथ्वी में निबद्ध अथवा अमृतवत् स्वच्छ शरीर, दानवों, ऋषियों तथा

लक्ष्मी द्वारा प्रशंसित अर्जुन विधाता द्वारा संसार की रक्षा में नियुक्त, विष्णु के प्रिय, अमृत के प्रेमी, दानवों, ऋषियों तथा लक्ष्मी से प्रशंसित नागराज शेष के समान सुशोभित हो रहे थे।

एकाक्षर श्लोक– **न नोन नुन्नो नुन्नानो नाना नानानना ननु।**
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्।।[6]

इसमें अन्तिम अक्षर हलन्त तकार को अक्षर नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इस विकटबन्ध में अन्तिम अक्षर के हलन्त होने की शर्त स्वीकार्य है और फिर यह अन्तिम हलन्त तकार भी तो 'न' का समान स्थानी ही है।

अन्वयार्थ– (हे नानाननाः)– हे अनेक मुखों वालों! (ऊननुन्नः)– नीच पुरुषों से पराजित, (ना न)– मनुष्य नहीं है, (नुन्नोनः ना अना)– नीच पुरुषों को पराजित करने वाला मनुष्य नहीं है, (ननुन्नेनः–न + नुन्न + इनः)– जिसका स्वामी पराजित न हुआ हो, (नुन्नः)– पराजित, (अनुन्नः)– अपराजित, (नुन्ननुन्ननुत्–नुन्न+नुन्न+नुत्) अति पीड़ित को भी पीड़ा पहुँचाने वाला,। (ना अनेनाः न)– मनुष्य निर्दोष नहीं।

अर्थ– अर्थात्–हे अनेक मुखों वाले प्रमथ गण! जो नीच पुरुषों से पराजित हो जाता है, वह मनुष्य नहीं है तथा जो नीचों को पराजित करने वाला है वह भी मनुष्य नहीं है। किन्तु आप लोग तो नीच पुरुष से न केवल पराजित हुए हैं, बल्कि डरकर भागे भी जा रहे हैं। अतः आप लोगों को क्या कहा जाय? जिसका स्वामी पराजित नहीं होता है वह पराजित नहीं समझा जाना चाहिए। अत्यन्त पीड़ित को पीड़ा पहुँचाने वाला पुरुष निर्दोष नहीं, प्रत्युत नीच है।

इसी प्रकार भारवि के काव्य–शिल्प का उत्कृष्ट नमूना निम्नलिखित 'सर्वतोभद्र बन्ध' में हम देख सकते हैं–

दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि

इस 'सर्वतोभद्रबन्ध' की विशेषता यह है कि इसे जिस ओर से भी पढ़िये, पूरा श्लोक बन जाता है। श्लोक का वास्तविक स्वरूप निम्नलिखित है, जो आठों कोष्ठकों के चतुष्टय में क्रमशः चारो ओर से बन जाता है–

देवाकानि निकावादे वाहिकास्व स्वकाहिवा।
काकारेभभरे काका निस्वभव्य व्यभस्वनि।।[7]

अब हम भारवि का एक महायमक उद्धृत कर रहे हैं, जिसके चारों चरणों का पाठ एक ही समान है–

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा
विकाशमीयुर्जगतीमार्गणाः।।[8]

इस श्लोक के शब्दों अथवा वाक्यों में भी समानता दिखायी पड़ रही है, किन्तु अर्थ सबके पृथक्–पृथक् हैं। स्पष्ट है कि ऐसे विकट छन्दों के निर्माण में महाकवि भारवि ने कितना कठोर परिश्रम, समय तथा प्रतिभा व्यय की होगी।

भारवि के ऐसे विकटबन्धों ने उनकी अर्थ–गौरव से युक्त, काव्यवाणी को ऐसे स्थलों पर और भी अधिक क्लिष्ट तथा गम्भीर बना दिया है। आज तो ऐसे श्लोकों का अनुवाद कार्य भी कथमपि सुगम न होता, यदि 'मल्लिनाथ' जैसे प्रकांड पंडितों की टीकाएँ हमारे सम्मुख न होतीं। निश्चय ही भारवि को अपने इन विकट बन्धों के तात्पर्यों को तात्कालिक संस्कृतज्ञ समाज में स्वयमेव प्रकट करना पड़ा होगा, जिसकी परम्परा 'मल्लिनाथ के समय तक चलती आई होगी।

सन्दर्भ सूची–

1. काव्यालंकार सूत्र 1/2/78
2. उपकर्त्री रसादीनाम्–साहित्य दर्पण, 9/1
3. किरातार्जुनीयम्, 5/13
4. किरातार्जुनीयम्, 5/25
5. किरातार्जुनीयम्, 15/45
6. किरातार्जुनीयम्, 15/14
7. किरातार्जुनीयम्, 15/25
8. किरातार्जुनीयम्,15/51